

आश्रम व्यवस्था : एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण

सारांश

आश्रम व्यवस्था भारतीय समाज का अनुपम पारम्परिक आधार है। सहस्रों वर्षों से इसका भारतीय संस्कृति, करोड़ों लोगों की सोच तथा जीवन शैली पर गहरा प्रभाव रहा है। प्रागैतिहासिक तथा प्राचीन काल में भारत में अनेक ऋषि-मुनि, सन्त-महात्मा, ज्ञानी-ध्यानी, चिन्तक एवं दार्शनिक हुए। इस बुद्धिजीवी वर्ग के सदस्यों ने यह जानने की कोशिश की कि व्यक्ति अपनी जीवन यात्रा का किस तरह से सदुपयोग करे। उन्हें मनुष्य में होने वाले शारीरिक व मानसिक परिवर्तनों का ज्ञान था। उनका व्यक्ति के पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं के बारे में भी पता था। व्यक्ति की औसत आयु कितनी होती है, इस बात पर भी उन्हें जानकारी थी। इस वर्ग के सदस्य भारत के विभिन्न भागों का भ्रमण करते। आम व्यक्ति की समस्याओं के बारे में विचार-विमर्श करते, संवाद करते। चिन्तन, मनन, विचारमन्थन तथा संवादों के उपरान्त वे निश्चित निष्कर्ष निकालते। आश्रम व्यवस्था की उत्पत्ति तथा विकास प्रचीन काल में किए गये ऐसे ही प्रयासों का परिणाम है।

सुजीत कुमार सरोच

ऐसोसिएट प्रोफेसर,

समाजशास्त्र विभाग,

राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,

बैजनाथ, हिमाचल प्रदेश

मुख्य शब्द : आश्रम, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास।

प्रस्तावना

भारतीय बुद्धजीवियों ने सहस्रों वर्ष पहले यह विचार किया कि क्यों न व्यक्ति की पूरी जीवन यात्रा में होने वाले परिवर्तनों का उसकी व समाज की आवश्यकताओं के अनुसार विभाजन किया जाये। प्रत्येक व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास हो, यह सुनिश्चित करने के लिए उन्होंने आश्रम व्यवस्था का विकास किया। मनुष्य के व्यक्तित्व का स्वाभाविक सर्वांगीण विकास हो इसके लिए उसकी जीवन यात्रा को चार सहभागों-चार आश्रमों में विभाजित किया।

आश्रम का अर्थ

‘आश्रम’ शब्द संस्कृत की ‘श्रम’ धातु से बना है जिसका अर्थ है प्रयास अथवा परिश्रम करना। कुछ एक विद्वानों ने आश्रम शब्द के अर्थ को परिभाषित किया है। पी०वी० काने ने कहा है, “आश्रम श्रम शब्द से लिया गया है जिसका अर्थ है प्रयास करना, श्रम करना और व्युत्पत्ति के अनुसार उसका अर्थ एक ऐसी व्यवस्था से है जिसमें व्यक्ति प्रयास करता है।” काने आश्रम शब्द की व्याख्या श्रम करने के अतिरिक्त जीवनकाल की विशेष अवस्था के रूप में भी करते हैं जिसके दौरान व्यक्ति प्रयास अथवा श्रम करता है। आप्टे (Apte)¹ के अनुसार आश्रम शब्द का अर्थ है स्थल, कर्त्तव्य आदि। ड्यूसन (Deussen) ने ‘धर्म एवं नीतिशास्त्र के विश्वकोष’ में लिखा है, “आश्रम का अर्थ है प्रयास करना तथा ऐसा स्थान जहाँ लोग श्रम करते हैं।”² ब्रजनाथ सिंह यादव का मानना है, “आश्रम का अर्थ जीवन का वह विभाग है जिसमें मनुष्य प्रयास करता है।” यादव आश्रम की व्याख्या जीवन के विशेष काल अथवा चरण के रूप में करते हैं। प्रभु ने भारतीय समाज एवं संस्कृति से सम्बन्धित अपनी कृति ‘हिन्दू सामाजिक संगठन’ (Hindu Social Organisation)³ में आश्रम शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में कहा है: (1) एक स्थान जहाँ प्रयास या उद्योग किया जाता है, तथा (2) इसप्रकार के प्रयत्न या उद्योग की क्रिया। उन्होंने आगे कहा है, “आश्रमों को जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए मानव द्वारा की जाने वाली जीवन यात्रा के मध्य विश्राम स्थल मानना चाहिए।” प्रभु ने आश्रम के अर्थ की सर्वपक्षीय व्याख्या की है। वह कहते हैं आश्रम एक स्थान है जहाँ मनुष्य श्रम, मेहनत व प्रयास करता है। यह जीवन यात्रा के पड़ाव भी है। “वेदव्यास” ने महाभारत के शान्तिपर्व में आश्रम के सम्बन्ध में लिखा है कि “आश्रम चार पदों वाली ऐसी सीढ़ी है जो ब्रह्माण्ड की दिशा में ले जाती है।” इस प्रकार स्पष्ट है आश्रम जीवनयात्रा के ऐसे पड़ाव है जिनके दौरान मनुष्य जीवन अवस्था के अनुसार श्रम करता है ताकि वह विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करता हुआ मोक्ष की ओर अग्रसर हो।

अनिता सरोच

ऐसोसिएट प्रोफेसर,

समाजशास्त्र विभाग,

राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,

पालमपुर, हिमाचल प्रदेश

आश्रमों का विभाजन

शास्त्रों में लिखा है आश्रम हिन्दू दर्शनानुसार जीवन यात्रा को चार आश्रमों में बांटा गया है। आश्रम व्यवस्था की अवधारणा के विकास के पारम्भिक चरण में आश्रमों की संख्या तीन मानी जाती थी। छन्दोग्य उपनिषद् में गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा ब्रह्मचर्य आश्रम को क्रमशः प्रथम,

द्वितीय तथा तृतीय आश्रम गया है। ब्रह्मचर्य को तीसरा एवं अन्तिम आश्रम माना गया है। जाबालि उपनिषद् प्रथम ऐसा शास्त्र है जिसमें चार आश्रमों का उल्लेख है। कई अन्य शास्त्रों में भी चार आश्रमों का उल्लेख मिलता है। इनमें से कुछ एक शास्त्रों में आश्रमों को जो नाम दिये गये हैं उन्हें निम्नलिखित सारणी में दर्शाया गया है—

सारणी-1
धर्मशास्त्रों के अनुसार आश्रम⁵

क्रम संख्या	शास्त्र का नाम	आश्रमों की संख्या	प्रथम आश्रम	द्वितीय आश्रम	तृतीय आश्रम	चतुर्थ आश्रम
1	विशिष्ट धर्मसूत्र	चार	ब्रह्मचारी	गृहस्थ	वानप्रस्थ	परिव्राजक
2	गौतम धर्मसूत्र	चार	ब्रह्मचारी	गृहस्थ	भिक्षु	वेखानस
3	आपद् धर्मसूत्र	चार	गुरुकुल में निवास की अवस्था	गृहस्थ में जीवन की अवस्था	मुनि की अवस्था	बनवासी की अवस्था
4	मनुस्मृति	चार	ब्रह्मचर्य	गृहस्थ	वानप्रस्थ	सन्यास या यति

उपर्युक्त शास्त्रों के अतिरिक्त अन्य धर्मशास्त्रों में भी आश्रमों का उल्लेख है। जीवन यात्रा के प्रारम्भ से अन्त तक सामान्यतः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास चार आश्रम माने जाते हैं। इनका क्रम, अवधि तथा उनमें किए जाने वाले प्रमुख कार्यों तथा निर्धारित उद्देश्यों को निम्न चित्र में दर्शाया गया है। सभी धर्मशास्त्रों में चार आश्रमों को एक नाम से सम्बोधित नहीं किया गया है। जैसे वानप्रस्थ को भिक्षु तथा मुनि के नाम से भी सम्बोधित किया गया है। इसी प्रकार संन्यास आश्रम को यति, वनवासी, वेखानस तथा परिव्राजक भी कहा गया है। जीवन काल को 100 वर्ष का मानकर इसे चार समभाग आश्रमों में बाँटा गया है। मनुष्य विभिन्न आश्रमों में निश्चित प्रकार के कार्य करता हुआ ऋणों से मुक्ति प्राप्त करता जाता है। अन्ततः उच्चतम लक्ष्य, मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है।

जिस अवस्था में व्यक्ति शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करता है उस ब्रह्मचर्य अवस्था कहा जाता है।

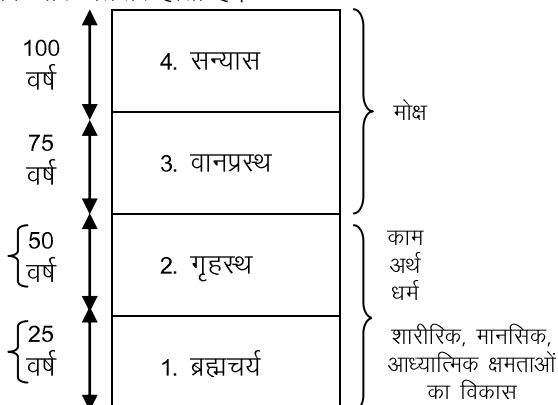
ब्रह्मचर्य का आचरण एवं कर्तव्य

‘ब्रह्म’ तथा ‘चर्य’ दो शब्दों से मिलकर ब्रह्मचर्य शब्द बना है। ‘ब्रह्म’ का अर्थ महान् तथा ‘चर्य’ का अर्थ विचरण करना है। अर्थात् ब्रह्मचर्य से अभिप्राय ऐसे मार्ग से है जिस पर चलकर व्यक्ति शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से महान् बन सके। कुछ विद्वान् ब्रह्मचर्य का आशय केवल लैंगिक संयम से लेते हैं लेकिन यह तो ब्रह्मचर्य का केवल एक पहलू ही है। ब्रह्मचर्य आश्रम उपनयन संस्कार से आरम्भ होता है। यह संस्कार ब्राह्मणों में 8 से 10 वर्ष की आयु में, क्षत्रियों में 10 से 20 वर्ष वैश्यों में 12 से 12 वर्ष की आयु में करने का विधान है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ

ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्यार्थी 25 वर्ष की आयु तक गुरुकुल में रहता हुआ शिक्षा ग्रहण करता था। वह आत्म नियन्त्रण का जीवन व्यतीत करता था। गुरुकुल में ब्राह्मण को धर्मशास्त्र सम्बन्धी, क्षत्रिय को शस्त्र सम्बन्धी तथा वैश्य को व्यापार सम्बन्धी शिक्षा दी जाती थी। शूद्रों को गुरुकुल में जाने की आज्ञा नहीं थी। दीक्षा-संस्कार के पश्चात् दीक्षित व्यक्ति को वेदाध्ययन की आज्ञा देने से पहले शिष्य को अनेक प्रकार से गुरु की सेवा कर उन्हें प्रसन्न करना आवश्यक था। गुरु के पशुओं की देखभाल करना, लड़कियाँ एकत्रित करना, भिक्षा लाना तथा यज्ञ से सम्बन्धित काय करके गुरु को खुश करत थे। इससे गुरु शिष्य की ज्ञान अर्जन करने की वास्तविक इच्छा को जान लेते थे। उसके पश्चात् ही उसे वेदाध्ययन की आज्ञा दी जाती थी। शिष्य का प्रमुख कर्तव्य वेदाध्ययन करना तथा उनको स्मरण रखना था। गुरुकुल में गुरु एवं शिष्य का सम्बन्ध अत्यधिक धनिष्ठ होता था। गुरु के प्रति श्रद्धा-भक्ति रखना तथा गुरु की आज्ञा का पालन करना शिष्य का परम कर्तव्य होता था। गुरु के आचरण की निन्दा करना शिष्य का अपराध ही नहीं बल्कि महापाप माना जाता था।

मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति में ब्रह्मचारियों को अनेक कर्तव्यों का वर्णन किया गया है। जैसे विद्यार्थी को सच बोलना चाहिए, प्रतिदिन स्नान करना चाहिए, सूर्य

**चित्र 1 आश्रम व्यवस्था-चार पदों वाली सीढ़ी⁶**

चार आश्रमों का सविस्तार वर्णन निम्नलिखित है—

ब्रह्मचर्य आश्रम

ब्रह्मचर्य आश्रम व्यक्ति के जीवन का प्रथम आश्रम है। मनु के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र-चारों वर्णों के सदस्य मूलतः शूद्र के रूप में जन्म लेते हैं। इसके पश्चात् ही वे धार्मिक संस्कारों के द्वारा 'द्विज' बनते हैं। इन संस्कारों में दीक्षा संस्कार प्रमुख है। दीक्षा के पश्चात् ही व्यक्ति शिक्षा प्राप्त कर सकता है। जो व्यक्ति शिक्षा-दीक्षा प्राप्त नहीं करता वह शूद्र ही रह जाता है।

की ओर नहीं देखना चाहिए, सुगन्ध, पुष्प, शहद, गोशत इत्यादि ग्रहण नहीं करने चाहिए। शरीर पर तेल तथा आँख में काजल नहीं लगाना चाहिए। विद्यार्थी के लिए प्रेम सम्बन्ध, क्रोध, मोह, व्यर्थ विवाद, संगीत, दूसरों की निन्दा, स्त्रियों को देखना या छूना, शूद्र की सेवा, जुआ खेलना तथा पशुओं को हानि पहुँचाना आदि का निषेध होता था।

छान्दोग्य उपनिषद् में गायों की सेवा, भिक्षा एकत्रित करना तथा वेदों के अध्ययन के द्वारा गुरु सेवा को विद्यार्थी के कर्तव्यों में मुख्य बताया गया है। इसके अतिरिक्त गुरु, गुरु की पत्नी या पुत्र को नमस्कार करने तथा भोजन इत्यादि अन्य क्रियाओं के बारे में स्मृतियों में बहुत-से नियमों की चर्चा की गई है।

मनु के अनुसार विद्यार्थी को चारपाई पर नहीं सोना चाहिए। धर्मसूत्र में भी गुरु के प्रति विद्यार्थी के इसी प्रकार के अनेक नियमों के पालन की चर्चा मिलती है। ब्रह्मचारियों के कर्तव्यों में ईश्वर के बारे में पूर्ण जानकारी प्राप्त करना, अपवित्र व अनुचित कार्यों से बचना, दोषों व बुराइयों से दूर रहना, शरीर व मस्तिष्क को पवित्र व अनुशासित बनाना, दूसरों का आदर सत्कार व सम्मान करना, सादा व आदर्श जीवन अपनाना तथा धर्म आदि से सम्बन्धित साहित्य पढ़ना या वेदाध्ययन करना इत्यादि सम्मिलित हैं। गुरुकुल में जब ब्रह्मचारी धर्म एवं परम्परा के अनुसार अध्ययन पूरा कर लेता था तो वह प्रतीकात्मक (Symbolic) स्नान कर लेता था। इसी के साथ उसका आश्रम का कोर्स पूर्ण माना जाता था। तत्पश्चात् वह 'स्नातक' कहलाता था। अब वह दूसरे आश्रम गृहस्थ में प्रवेश करने योग्य हो जाता है। इस प्रकार शिक्षा प्राप्ति के पश्चात् गुरु से विदा लेकर घर वापस आ जाता था। घर वापस आने के संस्कार को 'समावर्तन' कहा जाता है।

गृहस्थाश्रम

ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात् व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है। गृहस्थ-आश्रम व्यक्ति के जीवन का दूसरा पड़ाव है। विवाह के साथ ही वह इस आश्रम में प्रवेश करता है। पचास वर्ष तक इसी आश्रम में जीवन व्यतीत करता है। धर्मशास्त्रियों के अनुसार गृहस्थाश्रम दूसरे सभी आश्रमों में सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह अन्य तीनों आश्रमों का आधार केन्द्र है। मनुस्मृति के अनुसार जिस प्रकार सभी जीव-जन्तु वायु के सहारे जीवित रहते हैं उसी प्रकार सभी व्यक्ति गृहस्थाश्रम से जीवन धारण करते हैं। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार गृहस्थाश्रम अन्य आश्रमों को स्रोत है। गौतम धर्मसूत्र तथा बौधायन धर्मसूत्र में यह कहा गया है कि वास्तव में केवल एक ही आश्रम - गृहस्थाश्रम है; ब्रह्मचर्य इसकी तैयारी मात्र है तथा वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम गृहस्थ धर्म को शिक्षा देने वाले एवं जीवन-पालन का निर्देश करने वाले हैं। प्रो० हरिदत्त ने इस सन्दर्भ में कहा है कि महाभारत में गृहस्थाश्रम का गौरवगान अन्य शास्त्रों की अपेक्षा अधिक है। महाभारत के शान्ति पर्व में लिखा गया है कि जैसे माता के आधार से सब प्राणी जीते हैं, वैसे ही आश्रमों की स्थिति गृहस्थ के आधार पर है।

गृहस्थी का आचरण एवं कर्तव्य

डॉ० त्रिवेदी का कहना है कि व्यक्ति देवऋण, ऋषिऋण तथा पितृऋण इसी आश्रम में चुकाता है। विवाह के पश्चात् सपत्निक धार्मिक यज्ञों को पूरा करता हुआ व्यक्ति तथा देवताओं को प्रसन्न करता हुआ देव-ऋण से

मुक्त होता है। मनुष्य सन्तानोत्पत्ति कर वंश परम्परा को आगे बढ़ाता है तथा पितरों को श्राद्ध इत्यादि के अवसर पर पिण्ड दान कर पितृ श्रम से मुक्त हो जाता है। गृहस्थाश्रम को धर्म, अर्थ तथा काम की त्रिवेणी भी माना जाता है। यहाँ पर काम की पूर्ति एक साध्य नहीं बल्कि एक साधन मात्र है जिसका उद्देश्य पुत्र को जन्म देकर धार्मिक कर्तव्यों को पूरा करना है। गृहस्थाश्रम में रहते हुए व्यक्ति को अनेक नियमों का भी पालन करना होता है जैसे- जीवहत्या, असंयम, शत्रुता, पक्षपात, डर एवं अविवेक से सदैव दूर रहना। गृहस्थ से यह भी अपेक्षा की जाती है कि वह अपने माता-पिता, वृद्धों, ऋषियों व आचार्यों का आदर व सम्मान करे तथा पत्नी के प्रति व्यवहार धर्मानुकूल, अर्थ एवं काम की सीमाओं के अनुसार हो।

मनुस्मृति के एक प्रसंगानुसार, "जो व्यक्ति पृथ्वी पर स्थायी प्रसन्नता एवं स्वर्ग का आशीर्वाद प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें गृहस्थ आश्रम के दायित्वों को परिश्रम एवं लगन से पूरा करना अनिवार्य है, क्योंकि दुर्बल मन के व्यक्ति गृहस्थाश्रम के महान् दायित्वों को मुश्किल से ही पूरा कर सकते हैं।" महाभारत के शान्तिपर्व में इन्द्र के अनुसार "गृहस्थ का जीवन स्वयं अत्यधिक श्रेष्ठ एवं पवित्र है और उसी के द्वारा जीवन के उद्देश्य की वास्तविक पूर्ति सम्भव है।" गृहस्थाश्रम में रहते हुए गृहस्थ को अनेक कार्यों को पूरा करना पड़ता है। इन कार्यों में सबसे पहला कार्य है गृहस्थ पर निर्भर रहने वाले सदस्यों का भरण-पोषण करना। यह माना जाता है कि यदि गृहस्थ इन कार्यों को करने में असमर्थ रहता है तो उसे नरक में जाना पड़ता है। इसप्रकार व्यक्तिगत, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक तथा धार्मिक दृष्टिकोण से गृहस्थाश्रम व्यक्ति के जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अभिनीत करता है। इस आश्रम में गृहस्थ अपने कर्तव्यों को धर्मानुसार पूरा करता हुआ जीवन यात्रा की तीसरी सीढ़ी वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए अपने आप को तैयार करता है।

वानप्रस्थाश्रम

वानप्रस्थ का तात्पर्य है वन की ओर प्रस्थान करना। 25 वर्ष से 50 वर्ष तक गृहस्थी का जीवन व्यतीत करने के पश्चात् मनुष्य इस आश्रम में प्रवेश करता है। वानप्रस्थाश्रम में व्यक्ति 50 से 75 वर्ष तक रहता है। मनुस्मृति में लिखा गया है कि "जब गृहस्थ देख ले कि उसकी त्वचा ढीली पड़ गई है, बाल सफेद हो गए हैं तथा सन्तान के भी सन्तान हो गई है तब वह सबको छोड़कर वन की ओर प्रस्थान करे।" शूद्रवर्ण के सदस्यों को वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश निषेध है।

वानप्रस्थी का आचरण एवं कर्तव्य

इस आश्रम में व्यक्ति पत्नी के साथ या बिना पत्नी के प्रवेश कर सकता है। सांसारिक मोह-माया से विरक्ति, इन्द्रिय संयम, जीवों के प्रति दया भाव, सभी के प्रति मित्रता का भाव तथा नम्रता इत्यादि वानप्रस्थी का प्रमुख धर्म है। जब व्यक्ति वानप्रस्थ आश्रम में पहुँच जाता है तब सत्य और ज्ञान का खोज करना ही उसके जीवन का मुख्य लक्ष्य होता है। जन सेवा करना उसका परम कर्तव्य बन जाता है। इस आश्रम में व्यक्ति को वेदाध्ययन, यज्ञ इत्यादि को पूरा करना तथा ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करना होता है। मनु के अनुसार वानप्रस्थियों के

जंगलों में निवास (वन आश्रम) का नाम ही गुरुकुल होता है। इन्हीं गुरुकुलों में ब्रह्मचारी शिक्षा ग्रहण करते हैं। अधिकाधिक जनकल्याण एवं समाज कल्याण के कार्य करना वानप्रस्थी का कर्तव्य है। आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कराना उसका मुख्य ध्येय होता है। वह आध्यात्मिक ज्ञान की खोज में रहता है। अपनी सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति वन में ही कर लेता है। वह घास-फूस की बनी झोपड़ी में रहता है। वानप्रस्थी कन्द-मूल, फल इत्यादि खाकर अपनी भूख मिटाता है। हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत भी इस आश्रम का अत्यधिक महत्त्व है क्योंकि इसके द्वारा वैयक्तिक शुद्धिकरण एवं सामाजिक-कल्याण के उद्देश्यों को एक साथ प्राप्त किया जाता है। इस आश्रम का एकमात्र उद्देश्य व्यक्ति का स्वयं को सन्यास आश्रम के लिए तैयार करना है।

सन्यास आश्रम

सन्यास आश्रम व्यक्ति की जीवन यात्रा का अन्तिम पड़ाव है इस आश्रम में व्यक्ति 75 साल का हो जाने पर प्रवेश करता है। हिन्दू शास्त्रकारों के अनुसार केवल ब्राह्मण को ही सन्यास आश्रम में जाने की अनुमति है।

सन्यासी का आचरण एवं कर्तव्य

सन्यासी के रूप में व्यक्ति एक स्थान पर रहकर इधर-उधर घूमता रहता है। वह सभी प्रकार के स्वार्थों को त्याग कर जन कल्याण की भावना से भ्रमण करता है। इस आश्रम में सन्यासी मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयास करता है। सन्यासी के कर्तव्यों में भिक्षा ग्रहण करना, मोटे वस्त्र पहनना, पेड़ की छाया में सोना, किसी का अनादर न करना, आत्मज्ञान की साधना करना, पणाम के द्वारा इन्द्रियों को वश में करना तथा सुख-दुःख का अनुभव न करना प्रमुख है। व्यक्ति केवल परिवार का ही सदस्य नहीं रहता। पूरा समाज उसका घर-परिवार बन जाता है। वसुधैव कुटुम्बकम् ऐसी स्थिति की ही अभिव्यक्ति है। इस आश्रम की उपयोगिता को स्पष्ट करते हुए कपाड़िया कहते हैं, "वास्तव में सन्यासी अपनी विस्तृत मानवीयता सहित समाज की भली प्रकार प्रभावित करने और मार्गदर्शन करने के योग्य होता है।"⁹ इस प्रकार व्यक्ति अपने जीवन काल में इन चार आश्रमों के माध्यम से बौद्धिक, मानसिक एवं शारीरिक क्षमताओं का विकास करता हुआ जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति करता है।

आश्रम व्यवस्था का समाजशास्त्रीय महत्त्व¹⁰

सम्पूर्ण जीवन काल का इष्टतम उपयोग करने सम्बन्धी नियमों एवं व्यवहार के तरीकों की व्यवस्था-आश्रम व्यवस्था श्रेष्ठ जीवनयापन की महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शिका है। आश्रम व्यवस्था के समाजशास्त्रीय महत्त्व का वर्णन निम्नलिखित है-

मानवीय क्षमताओं का विकास

आश्रम व्यवस्था में मानवीय क्षमताओं के इष्टतम संदोहन एवं उपयोग (Optimum Utilization and Exploitation) की व्यवस्था है। ब्रह्मचर्य आश्रम पच्चीस वर्ष की आयु तक का काल है। इस दौरान मनुष्य को गुरुकुल या अन्य स्थान पर गुरुजनों से शिक्षा ग्रहण करनी होती है। बाल्यकाय में व्यक्ति का शरीर तथा बुद्धि विकसित हो रहे होते हैं। वह सांसारिक आकर्षणों से दूर रहते हुए कठिन परिश्रम करके, शारीरिक तथा मानसिक क्षमताओं

का विकास करता है। विद्यार्थी को आत्म-नियन्त्रण के सभी नियमों की अनुपालना करनी होती है। उसे भूमि पर आसन लगाकर वेदाध्ययन करना होता है। यौगिक क्रियाओं, अध्ययन, चिन्तन व मनन द्वारा मानसिक, शारीरिक तथा आध्यात्मिक क्षमताओं का सर्वोत्तम विकास होता है।

व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास

आश्रम व्यवस्था का अनुसरण करने से मनुष्य के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास होता है। जीवन के प्रथम पच्चीस वर्ष की आयु तक उसके गुण, स्वभाव, प्रवृत्ति तथा क्षमतानुसार शारीरिक एवं बौद्धिक क्षमताओं का विकास किया जाता है। गृहस्थाश्रम में मनुष्य अपनी विविध इच्छाओं की पूर्ति करता है वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रमों के दौरान वह पूर्व आश्रमों में प्राप्त ज्ञान व अनुभवों द्वारा लोगों का मार्गदर्शन करता है। जीवन व समाज के प्रति विशाल दृष्टिकोण, आत्म-नियन्त्रण, संयम तथा विचारों में ज्ञान व अनुभव के समावेश से मनुष्य ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करता है। यह व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का ही रूप है।

जीवन को सशक्त आधारशिला प्रदान करना

आश्रम व्यवस्था के माध्यम से जीवन को सशक्त आधारशिला प्रदान की जाती है। ब्रह्मचर्य आश्रम में शारीरिक एवं मानसिक क्षमताओं तथा अन्य सदगुणों के विकास, संयम, आत्मनियन्त्रण, त्याग, निष्ठा, परिश्रम तथा सामाजिकता आदि गुणों के विकास द्वारा भावी जीवन के लिए मजबूत नींव रखी जाती है।

जीवन का निर्विघ्न प्रवाह

आश्रम व्यवस्था जीवनयापन की ऐसी योजना है जिसमें व्यक्ति सदैव उच्च उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। अपने दायित्वों का निर्वाह करते हुए मोक्ष प्राप्ति की ओर बढ़ने का प्रयास करते रहने से उसमें आशावादिता बनी रहती है। आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत जीवन का निर्विघ्न प्रवाह होता है। पच्चीस वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य आश्रम में शारीरिक एवं मानसिक क्षमताओं का विकास किया जाता है। तत्पश्चात् गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर यौन तथा अन्य प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति की जाती है। सन्तानोत्पत्ति तथा बच्चों का पालन-पोषण के उपरान्त जब बच्चे युवावस्था में पहुँचते हैं तो मनुष्य गृहस्थ जीवन से ईश्वर की पूजा-अर्चना में लग जाता है। सत्य की खोज, ब्रह्मज्ञान तथा मोक्ष की प्राप्ति में जुट जाता है। इससे जीवन में निरन्तरता बनी रहती है।

मानवीय ज्ञान एवं अनुभव का सदुपयोग

वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रमों में मनुष्य पारिवारिक प्राणी से सम्पूर्ण मानव समाज समुदाय का सदस्य बन जाता है। वह ब्रह्मचर्य आश्रम में अर्जित ज्ञान तथा गृहस्थाश्रम में प्राप्त अनुभव एवं ज्ञान से लोगों का मार्गदर्शन करता है। चिन्तन, मनन, अध्ययन के आधार पर प्राप्त ज्ञान को लोगों में बाँटता है जिससे कम अनुभव प्राप्त व्यक्ति लाभान्वित होते हैं। विभिन्न आश्रमों से गुजरता हुआ मनुष्य धर्मानुसार अपनी आर्थिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक तथा बौद्धिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। कामेच्छा से लेकर वस्तुओं के उपभोग तथा पवित्र स्थलों के दर्शन सभी प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति भी करता है। जीवन के विभिन्न चरणों में ऋणों की पूर्ति

करता हुआ तथा परमात्मा की खोज करता हुआ व्यक्ति परम लक्ष्य-मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है।

कर्म एवं मनोवैज्ञानिक-शारीरिक परिवर्तनों में सन्तुलन

प्रत्येक आश्रम की आयु का निर्धारण तथा विभिन्न आश्रमों में किये जाने वाले कार्यों को मनुष्य की मनोवैज्ञानिक तथा शारीरिक स्थिति को मद्देनजर रखते हुये किया गया है। बाल्यावस्था में ब्रह्मचर्य के दौरान शारीरिक एवं मानसिक क्षमताओं के विकास पर बल दिया गया है। तत्पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया जाता है। जब बच्चे बड़े हो जाते हैं तो वे अपने दायित्वों का स्वयं निर्वाह करने की स्थिति में होते हैं। वे गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर लेते हैं। उनके भी आगे बच्चे पैदा हो जाते हैं। इस अवस्था में व्यक्ति को वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करना होता है। ऐसा मनुस्मृति के छठे अध्याय के एक श्लोक में लिखा है। मनुष्य यदि इस अवस्था में वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता है तो उसका परिवार के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं रहता है। नई पीढ़ी उनका स्थान लेने, कार्यों को करने तथा दायित्वों का निर्वाह करने के काबिल हो जाती है। फलस्वरूप परिवार में सौहार्दपूर्ण वातावरण बना रहता है। पीढ़ी के अन्तर (Generation Gap) के कारण दो पीढ़ियों के सदस्यों में अनावश्यक टकराव की स्थिति भी उत्पन्न नहीं होती है।

सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित मानव जीवन

जीवन यात्रा के विभिन्न कालों में व्यक्ति को क्या करना है यह आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत पूर्व निर्धारित होता है। इससे मनुष्य आश्रम धर्मानुसार कार्य करता है तथा विभिन्न दायित्वों का निर्वाह करता है। गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा सन्याश्रम प्रवेश की आयु एवं अवधि निर्धारित होने के कारण मनुष्य जीवन में लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये सुनियोजित तरीके से बढ़ता है। आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक आश्रम में मनुष्य द्वारा किए जाने वाले कार्य, निषेध, विशेषाधिकार तथा नियोग्यताएं निर्धारित होती हैं। ब्रह्मचारी की दिनचर्या, ब्रह्मचर्य सम्बन्धी अल्पकालिक तथा दीर्घकालीन नियम सुस्पष्ट होते हैं। उसके लिये प्रेम सम्बन्ध, क्रोध, मोह, विवाद, सुख भोग, परनिन्दा, जुआ, कटु वचन तथा नशा आदि निषेध होते हैं। इसी प्रकार गृहस्थी के कार्य एवं दायित्व भी सुस्पष्ट होते हैं। सन्याश्रम में प्रवेश से पूर्व मनुष्य के लिए पितृ ऋण, ऋषि ऋण तथा देव ऋण, तीन ऋणों से मुक्त होना आवश्यक है। इन ऋणों से मुक्ति वर्ण धर्मानुसार ही सम्भव है। मनुस्मृति के अध्याय 6 के श्लोक 6 में लिखा है, “विधिपूर्वक वेदों को पढ़कर, धर्मानुसार पुत्रों को उत्पन्न करके और शक्ति के अनुसार यज्ञों का अनुष्ठान कर द्विज मोक्ष साधक सन्यास के पालन में मन लगावें” अन्यथा “आचरण के दोष तथा पुत्रों को उत्पन्न किए बिना और यज्ञ आदि किये बिना सन्यास आश्रम ग्रहण करके मोक्ष चाहता हुआ नरक को जाता है मनुष्य द्वारा जीवन काल में परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहने, ऋणों से मुक्त होने तथा वर्णाश्रम धर्म का आचरण करने से समाज में स्वतः सुव्यवस्था एवं संगठन बना रहता है।”

सामाजिक विघटन पर रोक

वर्ण व्यवस्था से सामाजिक विघटन पर रोक लगती है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत धर्मानुसार निश्चित तरीके से व्यवहार करने तथा आदर्श-मूल्यों की अनुपालना करने पर बल दिया जाता है। सामाजिक विघटन को बढ़ावा देने वाले कारकों को निरुत्साहित (Discourage) किया जाता है। आश्रमों को वर्ण, कर्म व धर्म आदि से जोड़ने से सामाजिक विघटन पर अंकुश लगता है। आश्रम व्यवस्था द्वारा दान देना, जरूरतमन्दों की सहायता करना, विद्वान् ब्राह्मणों को भोजन करवाना, कन्या मूल्य निषेध, अतिथि सत्कार आदि लोक कल्याणकारी मूल्यों को प्रोत्साहित किया जाता है। विशेषतः सन्यासाश्रम में मनुष्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह यथासम्भव अधिकाधिक जनकल्याण के कार्य करे। लोगों के प्रगति व उत्थानार्थ उनका मार्गदर्शन करे।

अध्यात्मवाद एवं भौतिकवाद के बीच सामंजस्य

ब्रह्मचर्य आश्रम में इस बात पर बल दिया जाता है कि शिक्षार्थी सामाजिक मूल्यों की निष्ठापूर्वक अनुपालना करें। सत्य बोलना, झूठ न बोलना, चोरी व हिंसा न करना, नशा न करना, स्नानोपरान्त भोजन ग्रहण करना, पंच यज्ञ करना, दान देना, असहायों की सहायता करना, अपने ज्ञान एवं अनुभव से लोगों का मार्गदर्शन करना इत्यादि सामाजिक मूल्यों को जीवन का अभिन्न अंग बनाने पर जोर दिया जाता है। इस तरह आश्रम व्यवस्था अनेक महत्त्वपूर्ण सामाजिक मूल्यों का मूल स्रोत है। आश्रम व्यवस्था में भौतिकवाद एवं अध्यात्मवाद के बीच सामंजस्य करने की चेष्टा की गई है। एक ओर मनुष्य के शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक क्षमताओं के विकास पर बल दिया जाता है। वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रमों में सत्य एवं परमात्मा को जानने तथा परमार्थ पर विशेष बल दिया जाता है। दूसरी ओर गृहस्थाश्रम में कामेच्छाओं तथा अर्थ सम्बन्धी उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की पूर्ति को महत्त्व दिया जाता है। आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति धर्मानुसार किए जाने के लिए कहा जाता है। सम्पत्ति संग्रह एवं व्यय धर्मानुसार करके स्वतः भौतिकवाद को नैतिक आधार मिल जाता है।

मानव जीवन को गहराई से समझना

आश्रम व्यवस्था का अनुसरण करके मानव जीवन को गहराई से समझा जा सकता है। जीवन की अलग-अलग अवस्थाओं में विधि-विधानपूर्वक कार्य करना, विविध क्षमताओं का विकास करना, आत्मा तथा परमात्मा को जानना, आत्म पारिवारिक तथा सामाजिक विकास के लिए प्रयत्नशील रहना ऐसी स्थितियां एवं कारक हैं जिनसे मनुष्य को मानव जीवन सम्बन्धी क्या, क्यों, कैसे आदि प्रश्नों का उत्तर मिलता है।

सांस्कृतिक निरन्तरता

आश्रम व्यवस्था के अनुसार जीवनयापन करने से पता चलता है कि जीवन में प्रत्येक अवस्था व वस्तु अस्थाई है। मनुष्य को उसे छोड़ना ही है। गृहस्थाश्रम में दान देना परिवार के सदस्यों को छोड़कर वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करना, सन्याश्रम में शिक्षा दान देना ऐसे कदम एवंकृत्य हैं जिनसे व्यक्ति की एकाधिकारवादी प्रवृत्ति का दमन होता है। वर्णाश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत सांस्कृतिक हस्तान्तरण, अनुकरण तथा निरन्तरता की उत्तम व्यवस्था है। ब्रह्मचर्य आश्रम में मनुष्य को गुरुकुल आदि में गुरुजनों द्वारा संचित ज्ञान प्राप्त हो जाता है। प्रचलित

सामाजिक मूल्यों, प्रतिमानों, व्यवहार के तरीकों, विश्वासों, शिष्टाचारों, लोकरीतियों, परम्पराओं को ब्रह्मचर्य आश्रम में ग्रहण करने तथा अगले आश्रमों में नई पीढ़ियों को हस्तान्तरित करने की आश्रम व्यवस्था में अनुपम एवं अद्वितीय व्यवस्थित है।

आश्रम व्यवस्था व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास, सामाजिक संगठन, सन्तुलन, व्यवस्था, प्रगति, ज्ञानार्जन एवं सांस्कृतिक हस्तान्तरण की अनूठी व्यवस्था है जिससे मनुष्य में आशावादिता बनी रहती है।

निष्कर्ष

आश्रम व्यवस्था भारतीय समाज का अद्वितीय पारम्परिक आधार है। प्राचीन धर्म शास्त्रों में इस व्यवस्था की बहुपक्षीय व्याख्या की गई है। सहस्रों वर्षों से यह भारतीय समाज का अभिन्न अंग रही है। इक्कीसवीं शताब्दी में जबकि भारतीय समाज की जनसंख्या एक अरब से भी अधिक हो गई है, आश्रम व्यवस्था जनमानस में अपना स्थान बनाए हुए है। लाखों-करोड़ों लोग आज भी वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रम की आयु अवस्था में

पहुँच कर समाज कल्याण कार्य करना अपना आश्रम धर्म समझते हैं। गृहस्थी सन्तानोपत्ति करना तथा सन्तान को यथासम्भव अच्छी शिक्षा प्रदान करना अपना दायित्व मानते हैं। अतः आश्रम व्यवस्था जीवन को सशक्त आधार प्रदान करती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आप्टे, वी० एस०, संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश।
2. Deussen, Paul, Encyclopaedia of Religion and Ethics.
3. Prabhu, P.N., Hindu Social Organisation, P-83.
4. वेद व्यास, महाभारत : शान्तिपर्व-242/25।
5. Surroch Sujit & Surroch Anita (2003) Sociology (Indian Society) Modern Publishers, P-47
6. Ibid
7. महाभारत शान्तिपर्व 11-15
8. मनुस्मृति 3/79, 6/9-28।
9. Kapadia, KM, Marriage and Family in India.
10. Surroch Sujit & Surroch Anita (2015) Society in India, Mordern Publishers, PP 18-21.